वास्तु शास्त्र परिचय, अवधारणा एवं परम्परा

डॉ0 नन्दन कुमार तिवारी
असिस्टेन्ट प्रोफेसर, ज्योतिष विभाग,
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय,हल्द्वानी

भारतीय वास्तु शास्त्र का आधार ही मनुष्य को मानसिक दृष्टि से सुख प्रदान करना है । भारतीय वास्तुशास्त्र केवल मनुष्य के शारीरिक सुख का ही नहीं, अपितु मानसिक सुख का भी विचार करता है । भारतीय वास्तुशास्त्र केवल ऐसे भवन की कल्पना नहीं करता, जिसमें रहकर मानव को केवल भौतिक सुख ही मिले, अपितु ऐसे भवन की कल्पना करता है , जिसमे मनुष्य प्रसन्नचित हो, उसका जीवन समृद्ध हो और भवन में रहने वाले सभी लोगों में पारस्परिक सौहार्द और सामञ्जस्य की भावना हो । और यही भारतीय वास्तु शास्त्र का मूल उद्देश्य है और इसी मूल उद्देश्य की प्राप्ति के लिये भारत के ऋषियो ने, आचार्यों ने वास्तुशास्त्र के विविध ग्रन्थों का प्रणयन किया । भारतीय वास्तुशास्त्र मुख्य रूप से प्राकृतिक शक्तियों के साथ भवन और मानव के सामञ्जस्य के सिद्धान्त पर काम करता है । 'यत् पिण्डे तत् ब्रह्माण्डे ' इस सिद्धान्त के अनुपालन में भारतीय वास्तुशास्त्र ने ब्रह्माण्ड, मानव और भवन में निहित पञ्चमहाभूतों के समन्वय की कल्पना की और प्रकृति के साथ समन्वय कर भवन निर्माण का चिन्तन किया ।

जब तक मनुष्य प्रकृति के साथ समन्वय कर अपना जीवन यापन करता रहा तब तक प्रकृति ने मानव को अपना आशीर्वाद प्रदान कर उसे सुखमय जीवन प्रदान किया और जब से मनुष्य ने प्रकृति पर विजय प्राप्त करने के लिये उसके विरोध में कार्य करना आरंभ किया, तब से उसे सदैव ही मुंह की खानी पडी । इसका प्रमाण हमें समरांगण सूत्रधार के सहदेवाधिकार में वर्णित्त इस कथा से प्राप्त होता है, जिसमें आधुनिक विकास सिद्धान्त के प्रतिकूल यह कहा गया है कि प्राचीन काल में मानव और देवता एक साथ रहते थे , देवो के समान मानवों की पुण्यश्लोकता थी , अजरता थी , अमरता थी । वे भी देवों के साथ कल्पवृक्षों के मध्य में स्थित विशाल प्रासादों में विहार करते थे , कालान्तर में मानवों का निवास भी देवताओं के साथ वही हो गया । बहुत समय तक मानव और देवता एकत्र रहे। कुछ समय बाद मानव अपनी मर्यादा को भूल कर देवों की अवज्ञा करने लगें । देवताओ ने भी मानव के साथ 'मैत्री भाव ' त्यागकर उन्हें 'पुनर्मूषको भव ' की दशा में परिणित कर दिया । स्वर्ग से मानव पुनः धरती पर आ गये । जब वे देवों के साथ कल्प वृक्षों के मध्य में थे , तब उन्हे आहार-विहार के सभी साधन उपलब्ध थे । स्वर्ग में केवल एक ही ऋतु - वसन्त ऋतु थी । एक ही वर्ण ब्राह्मण था । वहा ग्राम-नगर-घर की कोई आवश्यकता ही नही थी । किसी की अधीनता नहीं थी । वहां केवल सुख ही था , दुःख की कल्पना भी नहीं थी । परन्तु मानव-देवों के पार्थक्य के कारण मानवों की दिव्य शक्तियां समाप्त हो गयी और वे क्षुधा-तृषा से व्याकुल रहने लगें । उनको भूख लगने लगी , परन्तु संपूर्ण पृथ्वी पर कहीं भी अन्न सुलभ नहीं था । ऐसी अवस्था में दैव कृपा से पर्पटक (खाद्य विशेष)का प्रादुर्भाव हुआ , जिससे मानवों ने अपनी बुभुक्षा को शान्त किया ,परन्तु कुछ समय बाद पर्पटक का भी लोप हो गया और शालि-तण्डुलादि का प्रथमोदय हुआ । मानवो के मन में भय पैदा हो गया कि कहीं पर्पटक की तरह तण्डुल का भी लोप न हो जाए, अतः उनमें संग्रह की प्रवृति पैदा हो गयी । उन्होने तण्डुल का संग्रह करना शुरू किया , जिसके लिये उन्हे एक सुरक्षित स्थान की आवश्यकता का अनुभव हुआ । तुष सेवन से मानवों में मल प्रवृत्ति का प्रादुर्भाव हुआ और मानवों में काम भावना भी जागृत हो गई । इन

कार्यों की अभिगुप्ति के लिए मानवों को सुरक्षित स्थान की आवश्यकता का अनुभव हुआ, जिसमें निवास कर वह इन सब कार्यों का सम्पादन कर सके। अत: वह भवन निर्माण की ओर प्रवृत्त होने लगा। इस प्रकार पृथ्वी पर भवननिर्माण की परम्परा का सूत्रपात हुआ। भवन निर्माण और पृथ्वी के सुनियोजन की यह कथा पौराणिक ग्रन्थों में वर्णित है। इसका अभिप्राय: यह कदापि नही है कि भारतीय वास्तुशास्त्र का आरम्भ पौराणिक युग से ही हुआ। वैदिककालीन साहित्य में भी अनेक स्थलों पर भवन निर्माण और वास्तुशास्त्र से सम्बन्धित तत्त्व यत्र–तत्र दृष्टिगोचर होते है।

वास्तु शास्त्र की परिभाषा व स्वरूप -

"वास्तु" शब्द का सामान्य अर्थ निवास है। "वस निवासे" धातु से उणादि सूत्र "वसेस्तुन" के द्वारा "तुन" प्रत्यय करने पर वास्तु शब्द की निष्पत्ति होती है। वास्तु का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ "वसन्त्यस्मिन्निितिवास्तु" है। अमरकोष में वास्तु शब्द के लिए "वेश्मभूर्वास्तुरस्त्रियाम" इत्यमर: कहा गया है। पाश्चात्यविद्वान "मोनियर विलियम्स" के अनुसार वास्तु शब्द का अर्थ " The Site or foundation of a house, site, ground, building or dwelling place किया गया है। इस प्रकार जब किसी अनियोजित भूखण्ड को सुनियोजित स्वरुप प्रदान कर उसे निवास के योग्य बनाया जाता है, तो उसे वास्तु कहा जाता है। अत: भवन, दुर्ग, प्रासाद, महल, मठ, मन्दिर और नगरादि समस्त रचनाऐं जिनमें मनुष्य वास करते है उन्हे वास्तु पद से सम्बोधित किया जाता है।

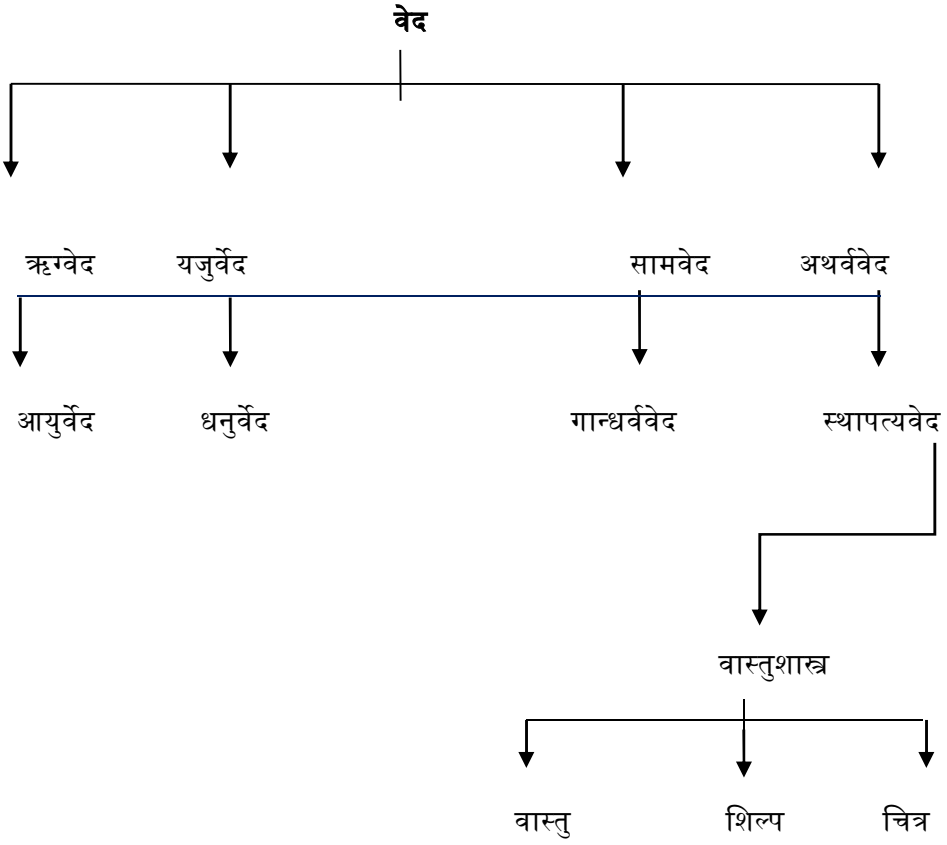

प्रवर्त्तक -

ब्रह्मा जी को वास्तुशास्त्र के प्रवर्त्तक के रूप में माना जाता है। पुराणों के अनुसार पृथु ने जब पृथ्वी को समतल किया और ब्रह्मा जी से पृथ्वी पर नगर–ग्राम आदि की रचना के सम्बन्ध में निवेदन किया। यथोक्तम् ---

" ग्रामान् पुर: पत्तनानि दुर्गाणि विविधानि च।
घोषान् व्रजान् सशिविरानाकारान् खेटखर्वटान् ॥
प्राक् पृथोरिह नैतेषां पुरग्रामादिकल्पना।
यथा सुखं वसन्ति स्म तत्र तत्राकुतोभया: ॥ "

तब ब्रह्मा जी ने अपने चारों मुखों से विश्वकर्मा आदि की उत्पत्ति की। ब्रह्मा के पूर्व मुख को विश्वभू, दक्षिण मुख को विश्वविद, पश्चिम मुख को विश्वस्रष्टा और उत्तर मुख को विश्वस्थ कहा जाता है। ब्रह्मा के विश्वभू नामक मुख से विश्वकर्मा की, विश्वविद नामक दक्षिण मुख से मय की, विश्वस्रष्टा नामक पश्चिम मुख से मनु की तथा उत्तर दिशा में स्थित विश्वस्थ नामक मुख से त्वष्टा की उत्तपत्ति हुई। इन चारों में से विश्वकर्मा और मय की परम्परा वास्तुशास्त्र में अत्यधिक पल्लवित और विकसित हुई।

वास्तुशास्त्र के प्रमुख आचार्य

वास्तुशास्त्र के प्रमुख आचार्यों का उल्लेख वास्तुशास्त्र के अनेक ग्रन्थों और पुराणों में प्राप्त होता है। मत्स्यपुराण में भृगु, अत्रि, वशिष्ठ, विश्वकर्मा, मय, नारद, नग्नजित, विशालाक्ष, पुरन्दर, ब्रह्मा, कुमार, नन्दीश, शौनक, गर्ग, वासुदेव, अनिरुद्ध, शुक्र तथा बृहस्पति इन अठारह आचार्यों का वर्णन किया गया है। यथोक्तम् ---

" भृगुरत्रिर्वशिष्ठश्च विश्वकर्मामयस्तथा।
नारदो नग्नजिच्चैव विशालाक्ष: पुरन्दर: ॥
ब्रह्मा कुमारो नन्दीश: शौनको गर्ग एव च।
वासुदेवोऽनिरुद्धश्च तथा शुक्रबृहस्पती ॥
अष्टादशैते विख्याता वास्तुशास्त्रोपदेशका:।
संक्षेपेणोपदिष्टं यन्मनवे मत्स्यरूपिण: ॥"

इस प्रकार से वास्तुशास्त्र के प्रवर्तक आचार्यों की सङ्ख्या के विषय में विविध मत है, परन्तु एक बात निश्चित है कि यह शास्त्र एक स्वतन्त्र शास्त्र के रूप में विकसित था और इस शास्त्र के अध्येताओं और आचार्यों की एक अपनी विशिष्ट परम्परा थी। इसका शास्त्रीय और प्रायोगिक कलेवर द्विजों के ही परिश्रम का परीणाम था। वास्तुकला मर्मज्ञ सूत्रधार के गुणों की चर्चा करते हुए उसके द्विजत्व की भी चर्चा के गई है। यथोक्तम् ---

" सुशीलश्चतुरो दक्ष: शास्त्रज्ञो लोभवर्जित:।
क्षमायुक्तो द्विजश्चैव सूत्रधार स उच्यते ॥"

शनै: शनै: यह विद्या द्विजेतरों के हस्तगत हो गई और इस विद्या के अध्येताओं के ज्ञान, प्रयोग और चारित्रिक ह्रास के कारण यह विद्या अपना गरिमामय स्थान खो बैठी। विश्वकर्मा के शाप से दग्ध इस विद्या के अध्येता-शिल्पि विश्वकर्मा के शापित पुत्र कहलाए जो कि मालाकार, कर्मकार, शंखकार, कुविन्द, कुम्भकार, कांस्यकार, सूत्रधार, चित्रकार, स्वर्णकार थे। ये विश्वकर्मा के शूद्रपुत्रों के रूप में विख्यात हुए। यथोक्तम् –

" ततो बभूवु: पुत्राश्च नवैते शिल्पकारिण: ।
मालाकारकर्मकारशङ्खकारकुविन्दका: ॥
कुम्भकार: कांस्यकार: स्वर्णकारस्तथैव च।
पतितास्ते ब्रह्मशापाद अयाज्या वर्णसङ्करा ॥"

वास्तुशास्त्र के विविध आचार्यों के नामों का उल्लेख तो प्राप्त होता है परन्तु उनकी वास्तुशास्त्र की रचनाओं के बारे में बहुत कुछ प्राप्त नही होता है। मत्स्यपुराण में वर्णित अष्टादश आचार्यों में गर्ग आचार्य ज्योतिषशास्त्र के भी आचार्य थे । इनके "गार्ग्यतन्त्र" नामक एक ग्रन्थ की चर्चा अग्निपुराण में प्राप्त होती है। इसी प्रकार से आचार्य नारद का नारदीय तन्त्र, नारदसंहिता, नारदीयपाञ्चरात्र एवं नारद वास्तुविधान आदि ग्रन्थ प्राप्त होते है। आचार्य अत्रि का आत्रेयतन्त्र, अत्रिसंहिता, अत्रिस्मृति नामक ग्रन्थ प्राप्त होते है। शुक्राचार्य की शुक्रनीति, बृहस्पति की बृहस्पतिस्मृति एवं बार्हस्पत्यशास्त्र आदि ग्रन्थ प्राप्त होते है। आचार्य "नग्नजित" का चित्रलक्षण ग्रन्थ प्राप्त होता है। रामायणकाल में वास्तुविद के रूप में आचार्य नल और नील का वर्णन प्राप्त होता है। इन्होने ही समुद्र पर सेतु का निर्माण किया था । महाभारत काल में लाक्षागृह का निर्माण करने वाले आचार्य पुरोचन प्रमुख वास्तुविद थे। आचार्य वराहमिहिर ने गर्ग, मनु, वशिष्ठ, पाराशर, विश्वकर्मा, नग्नजित, मय आदि आचार्यों की चर्चा वास्तुशास्त्रज्ञ के रूप में की है। वास्तुकौस्तुभ ग्रन्थ में शौनक, राम, रावण, परशुराम, हरि, गालव, गौतम, शौभित, वैद्याचार्य, कार्तिकेय और च्यवन आदि आचार्यों का उल्लेख किया गया है। विश्वकर्माप्रकाश में गर्ग, पराशर एवं बृहद्रथ को वास्तु का प्रवर्तक आचार्य कहा गया है। आचार्य कश्यप का काश्यपशिल्प, अगस्त्य का सकलाधिकार प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इन सभी आचार्यों में आचार्य विश्वकर्मा और मय ने वास्तुशास्त्र के प्रमुख आचार्य के रूप में स्थान प्राप्त किया है । इन दोनों आचार्यों की अपनी–अपनी परम्पराओं का विकास समय के साथ–साथ होता गया। विश्वकर्मा देवशिल्पि और मयाचार्य दानवशिल्पि के रूप में विख्यात हुए। विश्वकर्मा नागर परम्परा के प्रवर्तकाचार्य थे । इन्होने ही ब्रह्मा के सृष्टिकार्य में उनका सहयोग किया। इनको ६४ कलाओं का ज्ञाता माना जाता है। इनका स्वरूप चित्रण करते हुए बताया गया है कि ऐरावत हाथी पर आरूढ, प्रसन्नमुख, आभूषणों से सुसज्जित, चतुर्भुज, पीले वस्त्र धारण करने वाले, शान्तरूप हाथ में सूत्रादि धारण करने वाले देवता है।विश्वकर्मा के जन्म के विषय में विविध वास्तुग्रन्थों में विविध मत प्राप्त होते है। समराङ्गण सूत्रधार में इनको बृहस्पति के भाग्नेय, प्रभासवसु के पुत्र कहा गया है।जबकि अपराजितपृच्छा में इनका जन्म चाक्षुष मनु के वंश में माना गया है । जय, विजय, सिद्धार्थ और अपराजित इनके मानस पुत्र माने जाते है। इनमें से जय और अपराजित दोनों ही वास्तुविद के रूप में विख्यात हुए। जय और अपराजित दोनो का प्रश्नोत्तररूप ग्रन्थ "जयपृच्छा" तथा "अपराजितपृच्छा" के रूप में प्राप्त होता है। आचार्य विश्वकर्मा ने वास्तुशास्त्र, विश्वकर्माप्रकाश, दीपार्णव, क्षीरार्णव, वृक्षार्णव, अपराजितपृच्छा, जयपृच्छा, वास्तुप्रदीप आदि ग्रन्थों का उपदेश किया। वास्तुशास्त्र की द्राविड परम्परा के जनक मयाचार्य है। महाभारत में एक प्रसंङ्ग में आचार्य मय कहते है ---

" अहं हि विश्वकर्मा दानवानां महाकवि: ॥"

विश्वकर्मा यहां देवशिल्पि थे और मयाचार्य दानवों के शिल्पि थे। रामायण के अनुसार- "मय दिति के पुत्र थे।स्वर्ग की अप्सरा हेमा इनकी पत्नी थी और मन्दोदरी इनकी पुत्री थी। जिसका विवाह रावण से हुआ । इस प्रकार यह रावण के श्वसुर थे। मयाचार्य ने पाण्डवों के सभा भवन, पुष्पक विमानादि अनेक रचनाएँ की। इनका प्रमुख ग्रन्थ "मयमतम्" है। इसके अतिरिक्त मानसार, कश्यपशिल्प, मनुष्यालयचन्द्रिका, ईशानशिवगुरूदेव पद्धति आदि मय परम्परा के प्रमुख ग्रन्थ है।

पृथ्वी का सुनियोजन

महाराज पृथु के राज्याभिषेक के बाद ब्राह्मणों ने उन्हे प्रजा का रक्षक उद्घोषित कर दिया। उन दिनों पृथ्वी अन्नहीन हो गई थी जिसके कारण राजा पृथु की प्रजा भूख से पीडित होकर त्राहि- त्राहि करने लगी। प्रजाजनों ने राजा पृथु को अपनी इस समस्या से अवगत करवाया। प्रजा का करूण- क्रन्दन सुनकर पृथु को इन सबके मूल में अन्नाभाव ही कारण रूप से दिखाई दिया। "पृथ्वी ने स्वयं ही अन्न एवं औषधादि को अपने भीतर छुपा लिया है।" ऐसा अपनी बुद्धि में निश्चित कर पृथु ने क्रोधित होकर पृथ्वी को लक्ष्य बनाकर अपने धनुष पर बाण चढाया। क्रोधित पृथु को देखकर पृथ्वी गौ का रूप धारण कर सम्पूर्ण सृष्टि में रक्षा के लिए भागने लगी। जब पृथ्वी को कहीं भी अभयदान नही मिला तो गौ रूप धारिणी पृथ्वी ने बहुत ही विनम्र भाव से राजा पृथु को प्रणाम किया और उनके क्रोध को शान्त करने के लिए कई प्रकार से उनकी स्तुति की। राजा पृथु के शान्त होने पर पृथ्वी ने उन्हे बताया कि राक्षसों और दुष्टों से बचाने के लिए और यज्ञों के निमित्त उसने दिव्य औषधियों को अपने भीतर छुपा लिया है। इन औषधियों को आप कृषि आदि उपायों के द्वारा पुन: प्राप्त कर सकते है, परन्तु सर्वप्रथम इस अस्त व्यस्त पृथ्वी को समतल बनाना होगा। तदनन्तर राजा पृथु ने अपने बाण की नोंक से पृथ्वी पर स्थित ऊंचे – ऊंचे पर्वतों को फ़ोडकर उसे समतल बनाया और इस पृथ्वी पर अनेंको गांव, कस्बे, नगर और दुर्ग बसायें। इस प्रकार अनियोजित पृथ्वी को सुनियोजित कर रहने योग्य बनाया गया। यह वृतान्त वास्तव में प्राचीन भूगर्भशास्त्र की कथा है। पृथ्वी गोल है और लाखों वर्ष पूर्व यह अत्यन्त गर्म थी, रहने योग्य नही थी। यह ज्ञान आधुनिक विज्ञान की ही उपज नही है। वस्तुत: हमारे प्राचीन ऋषि इस तथ्य से पूर्ण परिचित थे। इस आख्यान से यह ज्ञात होता है कि भारतीय वास्तुशास्त्र का दृष्टिकोण कितना व्यापक था। यह समस्त भूमण्डल और सौरमण्डल ही वास्तु का विषय है। भारतीय वास्तुविज्ञान केवल भवन- निर्माण तक ही सीमित नही है, अपितु यह समस्त ब्रह्माण्ड ही भारतीय वास्तुविज्ञान का विषय है। दो पडोसी देशों की परस्पर मित्रता और शत्रुता का वहां रहने वाले लोगो पर निश्चित रूप से प्रभाव पडता है। इसी प्रकार किसी देश के जनपदों, नगरों, ग्रामों,कुटुम्बों की पारस्परिक मित्रता और शत्रुता भी उस स्थान के नागरिकों को प्रभावित करती है और पृथ्वी का भी सूर्यादि ग्रहों से सम्बन्ध पृथ्वी पर रहने वाले लोगों को निश्चित रूप से प्रभावित करता है।

सामान्य परिचय -

जैसा कि आप लोग समझ गये होंगे कि भारत की हर कला, हर शास्त्र और हर विज्ञान धर्म से अनुप्राणित और अध्यात्म से अनुस्यूत है। भारत की विविध कलाओं में से प्रमुख वास्तुकला और शास्त्रों में प्रमुख वास्तुशास्त्र भी अध्यात्म से अनुस्यूत है और यह देवतत्त्व हमें वास्तु के विविध सिद्धान्तों में दृष्टिगोचर होता है। अगर हम वैदिक- कालीन वास्तुशास्त्र के स्वरूप का अध्ययन करें, तो ज्ञात होता है कि उस काल में वास्तुशास्त्र का देवतत्त्व "वास्तोष्पति" में निहित था। वास्तोष्पति गृह का रक्षक देवता है। ऋग्वेद में वास्तोष्पति की स्तुति करते हुए गृह की रक्षा की कामना की गई है।

तद्यथा –

" वास्तोष्पते प्रति जानीह्यस्मान्त्स्वावेशो अनमीवो भवा न: ।
यत् त्वेमहे प्रति तन्नो जुषस्व शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे ।।"
" वास्तोष्पते प्रतरणो न एधि गयस्फ़ानो गोभिरश्वेभिरिन्दो ।

अजरासस्ते सख्ये स्याम पितेव पुत्रान् प्रति नो जुषस्व ॥"
"वास्तोष्पते शग्मया संसदा ते सक्षीमदि रण्वया गातुमत्या ।

पाहि क्षेम उत योगे वरं नो यूयं पात स्वस्तिभि: सदा न: ॥"

इन मन्त्रो से ज्ञात होता है कि वास्तोष्पति गृह का स्तुत्य देवता था। उससे एक सुन्दर गृह की कामना की गई है, उसके साथ-साथ गृह की रक्षा और गृह में रहने वाले द्विपदों (मानव) और चतुष्पदों (पशुओं) की रक्षा की भी प्रार्थना की गई है। गृह केवल पार्थिव तत्त्वों से निर्मित होने वाला भवन मात्र न होकर अपार्थिव और पार्थिव दोनो तत्त्वों के संगम से निर्मित एक देव-भवन स्वरूप में परिवर्तित हो जाता है, जिसमें रहने वाले समस्त द्विपद और चतुष्पद सुख, शान्ति और पारस्परिक सौहार्द की भावना मन में रखकर अपने जीवन का निर्वाह करते है और वैदिक- काल में उद्भूत यह भावना उत्तर- वैदिक काल, पौराणिक काल और आधुनिक काल में भी भारतीयों के जीवन में व्याप्त है । वैदिक-काल में वास्तुशास्त्र का देव-तत्त्व यहां वास्तोष्पति में दृष्टिगोचर होता है, पौराणिक - काल में वही देव- तत्त्व हमें वास्तुपुरूष के रूप में दिखाई देता है । वास्तुपुरूष की व्याप्ति हमें वास्तुशास्त्र के सभी मानकग्रन्थों में भी दिखाई देती है । इससे ही हमें वास्तुशास्त्र में वास्तुपुरुष का कितना महत्त्व है, यह ज्ञात हो जाता है। वास्तव में भारतीय संस्कृति में पुरूष का एक अपना महत्त्व है। पुरूष से हमारा अभिप्राय: दार्शनिक दृष्टि से पुरूष के स्वरुप से है ना कि लौकिक दृष्टि से हड्डि- मांस के पुरूष से। और पुरूष की व्याप्ति हमें वेद से लेकर लगभग सम्पूर्ण भारतीय वाङमय में दिखाई देती है। भारतीय विज्ञान की लगभग सभी शाखाओं- प्रशाखाओं में हमें पुरूष की व्याप्ति प्राप्त होती है। हां, उसके स्वरूप में अवश्य ही थोडा- बहुत अन्तर दिखाई देता है । जैसा कि आप जानते है कि विश्व वाङ्मय के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद में भी पुरूष की कल्पना की गई है । ऋग्वेद में पुरूष-सूक्त के मन्त्रों के माध्यम से उस परम पुरूष की स्तुति करते हुए कहा गया है --

" सहस्रशीर्षा पुरूष: सहस्राक्ष: सहस्रपात् ।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठदशाङ्गुलम् ।।१॥"
" पुरूष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम् ।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥२॥"
" एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पुरूष: ।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥३॥"

इस प्रकार से १६ मन्त्रों के माधयम से उस परम पुरूष की स्तुति करते हुए कहा गया है कि उस पुरूष के सहस्र हाथ,पैर,आंखे है और वह पुरूष इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। सृष्टि के आदि में एकमात्र वह ही पुरूष था, जिससे इस सम्पूर्ण की रचना हुई । उस पुरूष से ही ऋग्वेद, यजुर्वेद आदि उत्पन्न हुए । उस से ही वेद के सभी मन्त्र उत्पन्न हुए । उससे ही गौ आदि प्राणी उत्पन्न हुए । चन्द्र, सूर्य, इन्द्र, अग्नि, अन्तरिक्ष, पृथ्वी, दिशाएं सम्पूर्ण भवन आदि उस परम पुरूष से ही उत्पन्न हुए है । इस प्रकार सम्पूर्ण सृष्टि की कल्पना ऋग्वेद में उस परमपुरूष से ही की गई है । इस से ही भारतीय परम्परा में पुरूष का महत्त्व ज्ञात होता है । इतना ही नही, ज्ञान के परम स्रोत, वेद को भी दार्शनिक दृष्टि से पुरूष ही माना गया है । और वेद पुरूष के नाम से सम्बोधित किया गया है । छ: वेदाङ्गों को उस वेद- पुरूष के शरीर के विविध अङ्गों के रूप में विन्यस्त करते हुए कहा गया है –

" छन्द: पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते ।

ज्योतिषामयनं चक्षु: निरूक्तं श्रौत्रमुच्यते ॥
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम् ।
तस्मात्साङ्गमधीत्येव ब्रह्मलोकं महीयते ॥"

इस प्रकार से छन्द वेदाङ्ग को वेद पुरूष के पैर, कल्प वेदाङ्ग को वेद- पुरूष के हाथ, ज्योतिष वेदाङ्ग को वेद- पुरूष के चक्षु, निरूक्त वेदाङ्ग को वेद पुरूष के कान, शिक्षा वेदाङ्ग को वेद पुरूष की नासिका और व्याकरण वेदाङ्ग को वेद पुरूष का मुख कहा गया है । इस प्रकार छ: वेदाङ्गो का विन्यास वेद पुरूष के विविध अङ्गो में किया गया है ।

काल पुरूष का स्वरूप

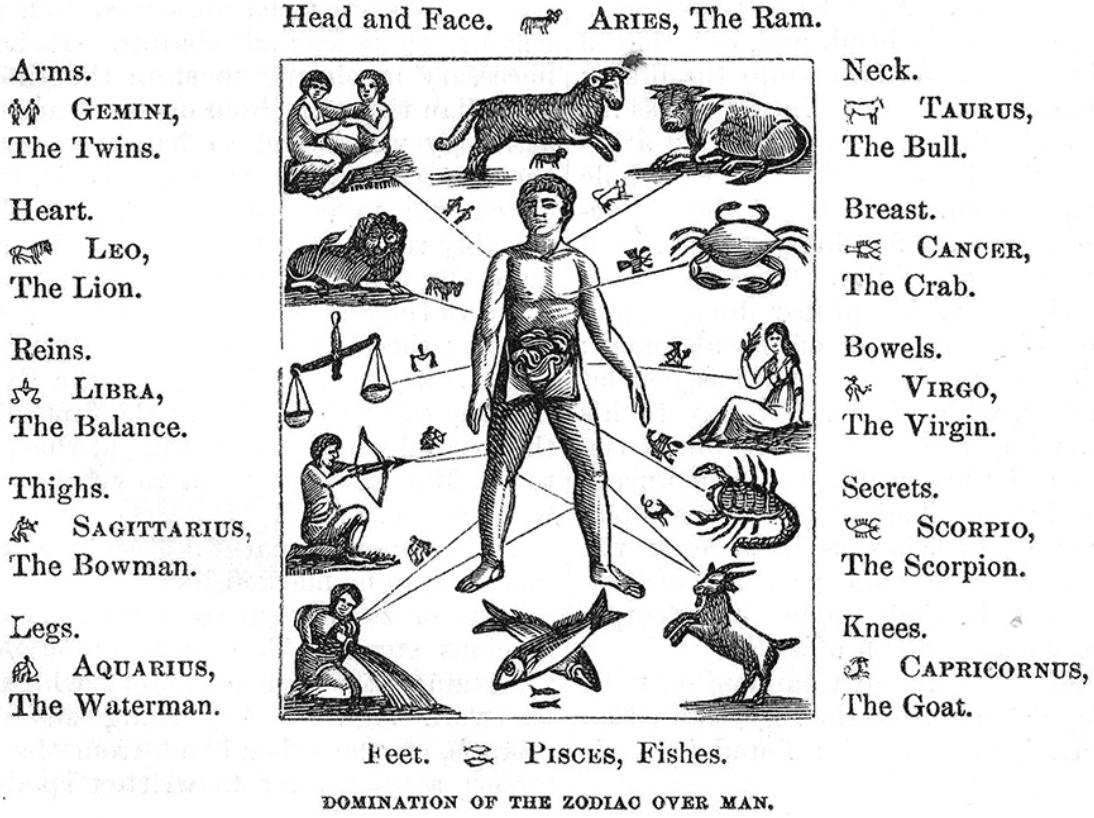

DOMINATION OF THE ZODIAC OVER MAN.

मेष राशि को कालपुरूष का सिर, वृषभ को मुख, मिथुन को वक्षस्थल, कर्क को हृदय, सिंह राशि को उदर, कन्या राशि को कटि, तुला राशि को वस्ति (नाभि और व्यञ्जन योनि का मध्य भाग) वृश्चिक राशि को लिङ्ग या योनि, धनुराशि को पैरों की सन्धि, मकर राशि को पैरों की गांठ, कुम्भ राशि को जांघ, और मीन राशि को कालपुरूष के शरीर के पैर माना गया है । यथोक्तम् –

" कालाङ्गानि वराङ्गमाननमुरो हृत्क्रोडवासो भृतो ।
वस्तिर्व्यञ्जनमुरुजानुयुग्ले जङ्घे ततोऽङ्घ्रिद्वयम् ॥
मेषाश्विप्रथमानवर्क्षचरणाश्चक्रस्थिता राशयो ।
राशिक्षेत्रगृहर्क्षभानि भवन चैकार्थसम्प्रत्यया: ॥"

इस प्रकार से कालपुरूष के शरीर में विविध राशियों का विन्यास किया गया है। जन्माङ्ग में जो- जो राशि शुभग्रह से युत- दृष्ट होकर बली रहती है, मनुष्य के शरीर का भी वह भाग पुष्ट होता है और जो राशि पापग्रहों से युत दृष्ट होकर पीडित रहती है, मनुष्य के शरीर का वह भाग भी पीडित, कमजोर या बलहीन होता है। इस कालपुरूष के शरीर में विविध राशियों के विन्यास को हम एक चित्र के माध्यम से भी समझ सकते है।

इस प्रकार से ज्योतिष के कालपुरूष के शरीर में विविध राशियों के विन्यास के माध्यम से हम मानव के शरीर के विविध अङ्गों में राशियों की स्थिति को समझ सकते है। इस प्रकार से आपने जाना कि पुरूष भारतीय संस्कृति में परमपुरूष, वेदपुरूष, कालपुरूष आदि के रूप में सर्वत्र व्याप्त है। इन्ही की तरह वास्तुशास्त्र में वास्तुपुरूष की कल्पना की गई है। वास्तव में " पुरिश्शेते पुरूष:"। यह शरीर एक पुर है और इस शरीर रूपी पुर में निवास करने वाली आत्मा ही पुरूष है। आत्मा शरीर का सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व है, यह हम सब जानते है। जब तक आत्मा रहती है तभी तक शरीर रहता है, आत्मा के न रहने पर शरीर निष्प्रयोजन हो जाता है। परमपुरूष इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का आत्म तत्त्व है, वेद पुरूष सम्पूर्ण ज्ञान- राशि का आत्म- तत्त्व है। कालपुरूष सम्पूर्ण ज्योतिष शास्त्र का आत्म- तत्त्व है और वास्तुपुरूष सम्पूर्ण वास्तुशास्त्र का आत्म- तत्त्व है।

परमपुरूष, वेद- पुरूष, और कालपुरूष से होते हुए अब हम वास्तुपुरूष की चर्चा करेंगे। वैदिक साहित्य में जो महत्त्व वास्तोष्पति का है, पौराणिक साहित्य में वही महत्त्व वास्तु -पुरूष को प्राप्त है। वैदिक काल में वास्तुशास्त्र का सर्वाधिक उपयोग यज्ञ-वेदी की निर्माण योजना में होता था, वही पौराणिक काल में वास्तुशास्त्र का सर्वाधिक प्रयोग भव्य देव- मन्दिरों के निर्माण में होने लगा। पौराणिक काल के वास्तुपुरूष का प्रसङ्ग लगभग सभी पुराणों में व्याप्त है। मत्स्यपुराण के अनुसार – प्राचीन काल में शिव और अन्धकासुर में घोर युद्ध हुआ। युद्ध श्रम से भगवान शिव के मस्तक से पसीने की एक बूंद धरती पर गिरी। उस बूंद से एक विशाल और भयावह प्राणी की उत्पत्ति हुई जिसने उत्पन्न होते ही पृथ्वी और स्वर्ग दोनों को भयभीत कर दिया। पैदा होते ही उसने समस्त राक्षसों का विनाश किया और उनका रक्तपान किया। परन्तु इससे भी उसकी तृप्ति नही हुई। भूख से व्याकुल होकर वह तीनों लोकों का भक्षण करने के लिए उद्यत हो उठा। तब निरन्तर ऊपर की ओर बढते हुए उसके शरीर को समस्त देवताओं ने मिलकर सिर से पकडा और उसे अधोमुखी कर भूमि में गाड् दिया। जिस देवता ने उसके शरीर के जिस अङ्ग को पकडा, उस देवता की स्थापना उसके शरीर के उसी अङ्ग पर मानी जाने लगी। उसी दिन से उस पुरूष का नाम वास्तुपुरूष हो गया। यथोक्तम् –

" पुरा कृतयुगे ह्यसीन्महद्भूतं समुत्थितम्।
व्याप्यमानं शरीरेण सकलं भुवनं तत: ॥
तद्दृष्ट्वा विस्मयं देवा: गता: सेन्द्रा: भयावृता:।
ततस्तै: क्रोधसन्तप्तैर्गृहीत्वा तमथासुरम् ॥"
विनिक्षिप्तमधोवक्त्रं स्थितास्तत्रैव ते सुरा:।
तमेव वास्तुपुरूषं ब्रह्मा कल्पितवान् स्वयम् ॥"

वास्तुपुरूष की उत्पत्ति का यह प्रसङ्ग लगभग इसी रूप में वास्तुशास्त्र के अन्य ग्रन्थों जैसे कि राजवल्लभवास्तुशास्त्र, बृहत्संहिता, विश्वकर्माप्रकाश और पुराणों में भी प्राप्त होता है। वास्तुपुरूष के अतिविस्तृत शरीर को जब देवताओं ने व्याप्त कर लिया और जिस देवता ने वास्तुपुरूष के शरीर के जिस अङ्ग को पकडा, उस देवता की स्थापना उसी अङ्ग पर हो गई तो वास्तुपुरूष जो कि राक्षसी प्रवृत्ति का था, और इस सम्पूर्ण सृष्टि को, भवनों को समाप्त करने के लिए, भक्षण करने के लिए उद्यत था। और जिसका शरीर विस्तृत ही होता जा रहा था। ऐसे वास्तुपुरूष के शरीर पर अनेंको देवताओं की प्रतिष्ठा होने से उसमें देवत्व के भाव जागृत होना निश्चित ही था। अब वह वास्तुपुरूष राक्षस होते हुए भी देवों से व्याप्त होने के कारण दैवीय गुणों से युक्त हो गया था और पूजनीय हो गया था। अत: प्रसन्न होकर ब्रह्मा जी ने उस वास्तु पुरूष को वरदान दिया कि ग्राम, नगर, दुर्ग, पत्तन,

मन्दिर, गृह, सरोवर, वापी, उद्यान, आदि भवन निर्माण सम्बन्धी समस्त कार्यों में वास्तुपुरूष का पूजन सर्वप्रथम होगा। यथोक्तम् ---

" वरं तस्मै ददौ प्रीतो ब्रह्मा लोकपितामहः।
ग्रामे वा नगरे वापि दुर्गे वा पत्तनेऽपि वा॥
प्रासादे च प्रपायां च जलोद्याने तथैव च।
यस्त्वां न पूजयेन्मर्त्यो मोहाद्वास्तु नर प्रभो।
आश्रियं मृत्युमाप्नोति विघ्नस्तस्य पदे पदे।
वास्तुपूजामकुर्वाणस्तवाहारो भविष्यति॥"

इस प्रकार से वास्तुपुरूष उस दिन से भवननिर्माण सम्बन्धी कार्यों में पूजनीय हो गया। और ब्रह्मा जी ने वरदान देते हुए कहा कि जो भी मनुष्य भूमि सम्बन्धी कार्यों में वास्तुपूजन नहीं करेगा वह पद-पद पर विघ्नों से बाधित होगा, और वास्तुपुरूष का आहार बन कर मृत्यु को प्राप्त होगा। उस दिन से ही भवनारम्भ और प्रवेश के समय वास्तुपूजन की परम्परा का शुभारम्भ हुआ। वास्तव में वास्तुपुरूष की संकल्पना का आधार भी हमारी संस्कृति की अध्यात्म निष्ठा है। हमारे यहां भवन ईंट- पत्थर से निर्मित भवन मात्र नही है, बल्कि उस भवन मे, गृह के हर एक भाग में विविध देवों का निवास स्थान है। इन देवों के निवास की भावना को जानकर जो मनुष्य उस भवन में निवास करेंगे, वे भी दैवीय गुणों से ओत- प्रोत होकर समाज, राष्ट्र और सम्पूर्ण जीव- जगत् के कल्याण में निरन्तर तत्पर रहेंगे।

भवन में वास्तुपुरूष

प्रत्येक भवन में वास्तुपुरूष औंधे मुंह लेटा हुआ है ऐसा माना जाता है। और उस वास्तुपुरूष पर देवों का निवास है। इस प्रकार से प्रत्येक भूखण्ड पर देवों का वास होने के कारण वह भूखण्ड भवन मात्र न रहकर देवालय हो जाता है। और उस देवालय में निवास करने वाले मनुष्य भी देवत्त्व भाव से युक्त हो जाते है। भवन निर्माण के समय जिस देवता की जो प्रकृति हो, उस प्रकृति के अनुसार कक्ष विन्यास का विधान वास्तुशास्त्र के ग्रन्थों में किया गया है। इस विधि का उल्लेख वास्तुपदविन्यास के नाम से वास्तुशास्त्र के विविध ग्रन्थों में प्राप्त होता है। इस विधि के अनुसार वास्तुपुरूष का विन्यास सम्पूर्ण भूखण्ड पर किया जाता है। जिस हेतु सर्वप्रथम दिक्- साधन की परम्परा है। दिक्- साधन की चर्चा आप अगले अध्यायों में विस्तार से पढेगें । दिक्- साधन के पश्चात् वास्तुपुरूष का विन्यास किया जाता है। ईशान- कोण में वास्तुपुरूष का सिर, नैऋत्य- कोण में पैर, आग्नेय और वायव्य कोण में वास्तुपुरूष के हाथ प्रतिष्ठित है। भूखण्ड पर औंधे मुंह व्याप्त इस वास्तुपुरूष के शरीर के विविध अङ्गों पर विविध देवों की स्थापना की कल्पना है। अग्निदेव वास्तुपुरूष के शिरो भाग पर, वरूण देवता मुख पर, अदिति नेत्रों में, जयन्तादि वास्तुपुरूष के कानों में, सूर्य- चन्द्र वास्तुपुरूष की दक्षिण और वाम भुजा पर, आपवत्स, महेन्द्र, और चरक, इन तीनों देवताओं की प्रतिष्ठा वास्तुपुरूष के वक्ष स्थल पर, अर्यमा और पृथ्वीधर की प्रतिष्ठा दक्षिण और वामस्तन पर की जाती है। यक्ष्मा,रोग,नाग, मुख्य और भल्लाट, इन पांचों देवताओं की प्रतिष्ठा वास्तुपुरूष की वाम भुजा पर, सत्य, भृश, नभ, वायु और पूषादि पांच देवताओं की स्थापना दक्षिण भुजा पर की जाती है। वास्तुपुरूष के हाथों पर सावित्र, सविता, रूद्र और शक्तिधरादि प्रतिष्ठित होते है। हृदय पर ब्रह्मा, दक्षिण कुक्षि पर वितथ और गृहक्षत, वाम कुक्षि पर शोष और असुर की प्रतिष्ठा की जाती है। वास्तुपुरूष के उदर पर मित्र और विवस्वान्, लिङ्ग पर जय और इन्द्र, दक्षिण उरु पर यम तथा वाम उरु पर वरूण की स्थापना मानी जाती है।

मृग, गन्धर्व और भृश की प्रतिष्ठा दक्षिण जङ्घा पर, दौवारिक सुग्रीव और पुष्पदेवों की प्रतिष्ठा वाम जङ्घा पर तथा पितृगणों की प्रतिष्ठा चरणों पर की जाती है। यथोक्तम् –

" पूर्वोत्तरदिङ्मूर्धा पुरूषोऽयमवाङ्मुखोऽस्य शिरसि शिखी।
आपो मुखे स्तनेऽस्यार्यमा ह्युरस्यापवत्सश्च ॥
पर्जन्याद्या बाह्या दृक्श्रवणोर: स्थलांशगा: देवा: ।
सत्याद्या: पञ्चभुजे हस्ते सविता च सावित्र: ॥
वितथो बृहत्क्षतयुत: पार्श्वे जठरे स्थितो विवस्वांश्च ।
उरु जानु च जङ्घे स्फ़िगिति यमाद्यै परिगृहीता: ॥
एते दक्षिणपार्श्वस्थानेष्वेवं च वामपार्श्वस्था: ।
मेढ्रे शक्रजयन्तौ हृदये ब्रह्मा पिताऽघ्रिगत: ॥

वास्तुपुरूष के भवन में विन्यास और वास्तुपुरूष के शरीर पर विविध देवों की प्रतिष्ठा को हम चित्र के माध्यम से समझ सकते है।

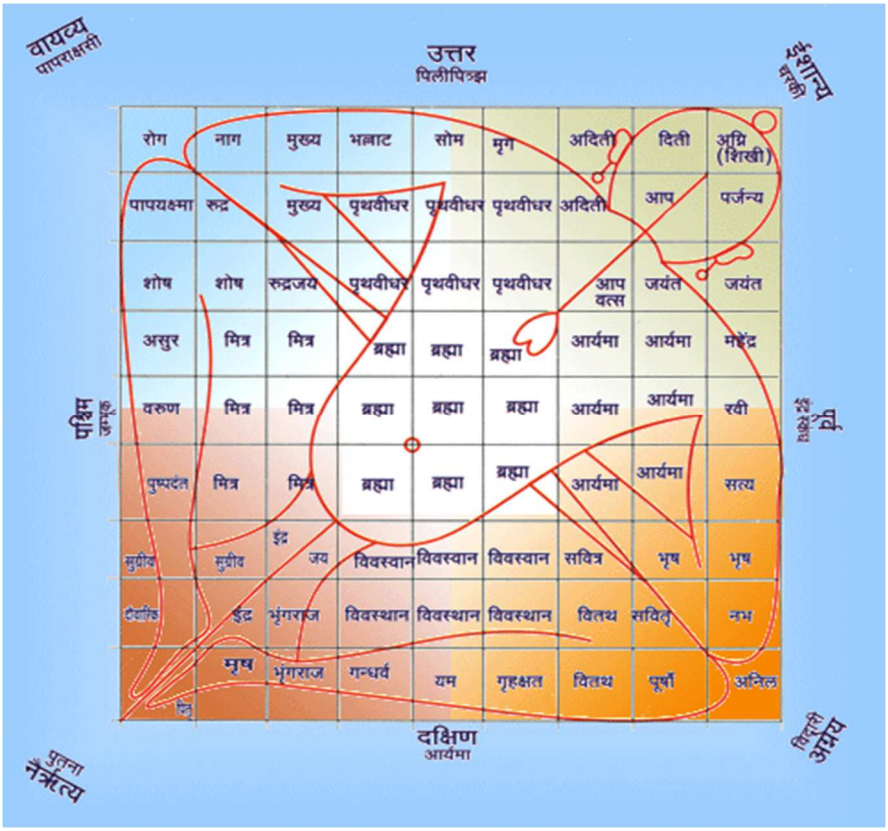

इस प्रकार से वास्तुपुरूष सम्पूर्ण भूखण्ड पर व्याप्त है और वास्तुपुरूष के शरीर पर ४५ देवता प्रतिष्ठित है। भूखण्ड पर जब भी भवन का निर्माण किया जाता है तो भवन निर्माण के समय वास्तुपुरूष के नेत्र, मुख, हृदयादि मर्म और अतिमर्म स्थानों पर निर्माण का निषेध किया गया है। मर्म- अतिमर्म स्थान क्या

है ? इस विषय में आप आगे के अध्यायों में विस्तार से पढेंगे। यह मर्म स्थान वास्तुपुरूष के शरीर में अति कोमल अङ्ग माने जाते है। जो महत्त्व मनुष्य के शरीर में इन अङ्गों का है, वही महत्त्व वास्तुपुरूष के शरीर में इन मर्म और अतिमर्म अङ्गों का है। तथा इन अङ्गों का वेध उस गृह में निवास करने वाले मनुष्यों के अनेक प्रकार के कष्टों का कारण बनता है। अत: वास्तुपुरूष का भवन निर्माण में अत्यन्त महत्त्व है। वास्तव में हमारी संस्कृति में प्रत्येक वास्तु के भौतिक और अभौतिक दो पक्ष माने जाते है। भौतिक पक्ष हमारे लिए दृष्ट होता है, जबकि अभौतिक पक्ष अदृष्ट होता है। अभौतिक पक्ष को ही हम आध्यात्मिक पक्ष भी कह सकते है। वास्तुपुरूष भवन में अदृष्ट होता है, क्योंकि वह भौतिक तत्त्व न होकर आध्यात्मिक तत्त्व है। तथा वह अदृश्य तत्त्व हमें हमारे जीवन में शुभाशुभ फ़ल प्रदान करता है । जिस फ़ल का कारण भी अदृष्ट होता है। वास्तव में प्रत्येक भूखण्ड की आकृति भिन्न होती है और उस भूखण्ड की आकृति के अनुसार ही उस भूखण्ड पर वास्तुपुरूष का विन्यास होता है। जिस प्रकार से प्रत्येक पुरूष की एक अपनी शारीरिक संरचना होती है। और उस पुरुष की शारीरिक संरचना के अनुसार ही प्रत्येक विज्ञान या शास्त्र उसके शुभाशुभ का चिन्तन करता है।उसी प्रकार से प्रत्येक भूखण्ड की अपनी एक आकृति है। वह भूखण्ड आयताकार, वर्गाकार या वृत्ताकार हो सकता है और उस आकृति के अनुसार ही भूखण्ड पर वास्तुपुरूष का विन्यास और उस वास्तुपुरूष पर देवताओं की प्रतिष्ठा की जाती है फ़िर देवों की प्रकृति के अनुसार उस भवन में विविध कक्षों का निर्माण किया जाता है।